

■ भारत के ख्यातनाम समाज वैज्ञानिक और चिन्तक कांचा आइलैया की पुस्तक 'हमारे समय में श्रम की गरिमा' श्रम से दूर होते जा रहे समाज और इसके परिणामस्वरूप समाज में उत्पन्न समस्याओं को रेखांकित करती है। सभी शिक्षकों और किशोरों के लिए यह एक पठनीय पुस्तक है। ■

हमें जो समाज चाहिए

पल्लव

स्वयं प्रकाश की एक कहानी है 'अविनाश मोटू उर्फ एक आम आदमी'। कहानी एक ऐसे टेलिफोन मेकेनिक की है जो अपने काम से बेइंतहा प्रेम करता है और इसके चलते अपने साथियों में उपहास का पात्र भी बनता है। परिश्रम उसका जीवन दर्शन है लेकिन वह इसकी सैद्धांतिकी से सर्वथा अनभिज्ञ है और अपने आचरण से चुपचाप कर्म संस्कृति की वापसी कर रहा है, जो मनुष्यता के लिए जरूरी है। सवाल यह है कि क्यों किया जाए परिश्रम ? मशीन हैं तो ! क्या विज्ञान ने तमाम आविष्कार हमारे जीवन को सुखी और आरामदायक बनाने के लिए नहीं किए हैं ? तो ! ऐसे में हाथों से काम करना ? और काम करने वाले ! या तो बेचारे हैं वे या इतने नालायक कि साहब झाड़ू लगाने के अलावा कर क्या सकते हैं ये ! किसी बड़े पद पर भी बैठ जाएं 'ये' तो अक्ल थोड़े आ जाएगी, जूते गांठने वाले ही रहेंगे। फिर अविनाश क्यों काम कर रहा है? काम से उसे प्यार कैसे है ?

यह सारी बातें कांचा आइलैया की पुस्तक 'हमारे समय में श्रम की गरिमा' पढ़कर मेरे मन में आई। आरक्षण का विरोध करते नवयुवक डॉक्टरों-इंजीनियरों को सबसे 'सहज गांधीवादी' तरीका नजर आता है, वह है झाड़ू लगाना। क्योंकि झाड़ू लगाना सबसे घटिया काम है जिसके लिए किसी ज्ञान, कौशल या बुद्धि की आवश्यकता नहीं होती। कांचा आइलैया इसी मिथक को तोड़ते हैं और आदिवासी पशुपालक, चर्मकार, किसान, कुम्हार, बुनकर, धोबी, नाई जैसे समुदायों के साथ जुड़े श्रम के गौरवपूर्ण अध्यायों की व्याख्या करते हैं। आदिवासी समुदाय पर लिखते हुए जो पहली बात पाठक के समक्ष रखते हैं वह यह है कि आखिर कब, कैसे, किसने तय किया होगा कि आम रसीला-स्वादिल-स्वास्थ्यवर्द्धक फल है और रतनजोत के फल खाने से मृत्यु हो सकती है। इस ज्ञान को देने वाले आदिवासियों को हमारा तकनीक संपन्न समाज जंगली समझकर दुल्कारता है, उन्हें दूसरे दर्जे का मनुष्य मानता है क्योंकि वे परिश्रम कर जीवन चलाते हैं। वे लिखते हैं- 'मानव जाति के जीवित रह पाने का प्रमुख कारण है कि हमने सहस्राब्दियों से सही प्रकार के खाद्य पदार्थ खाए हैं। आज जो कन्द मूल हम खाते हैं, उन्हें जमीन से खोदना पड़ता है, जो फल हम खाते हैं उन्हें पेड़ों से तोड़ना पड़ता है; जो मांस हम खाते हैं, वह पशु-पक्षियों से मिलता है। यदि आदिवासियों ने ये कठिन काम न किए होते तो मनुष्य जाति जीवित न रह पाती।' आगे वे स्पष्ट कहते हैं कि हमारी बुनियादी खाद्य संस्कृति विकसित करने की खातिर अपने जीवन और अंगों को खतरे में डालकर पाए ज्ञान को आदिवासियों ने दूसरों के साथ बांटा। तो क्या यह आधुनिक समाज की बिडम्बना और कृतघ्नता ही है कि वह परिश्रम को हेय समझता गया और जितनी अधिक मेहनत जो समुदाय करता उसे उतनी ही नीची नजर से देखने का अभ्यस्त होता गया ? वहीं आगे पुस्तक में जब वे नाई समुदाय पर लिखते हैं तब और अधिक रोचक जानकारी मिलती है जो इस बिडम्बना को गहरा करती है। आइलैया बताते हैं कि 'आधुनिक युग के पहले नाइयों के अलावा किसी भी अन्य जाति के लोग बीमारियों से पीड़ित लोगों को नहीं छूते थे। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अस्तित्व में आने तक नाई ही कई छोटी-मोटी शल्यक्रियाएं करते थे। उस्तरा चलाने में अपनी विशेषज्ञता के कारण वे रणभूमि में लगी चोटों का उपचार करते थे। वास्तव में शल्य चिकित्सा और बाल काटने के व्यवसाय में सहज संबंध है। शरीर के उस हिस्से पर जहां शल्यचिकित्सा होनी होती है, बालों की उपस्थिति के कारण

● लेखक परिचय

जनार्दन राय नागर राजस्थान विद्यापीठ विश्वविद्यालय, उदयपुर के हिन्दी विभाग में अध्यापन, बनास पत्रिका के संपादक।

पुस्तक : 'मीरा' : एक पुनर्मूल्यांकन के संपादक, आधार प्रकाशन, पंचकुला, हरियाणा।

संपर्क : 403 बी-3, वैशाली अपार्टमेंट, सेक्टर-4, हिरणमगरी, उदयपुर-313002 राजस्थान

संक्रमण हो सकता है। इसलिए शल्यक्रिया से पहले बालों को पूरी तरह साफ करना अनिवार्य होता है। यह चलन आज भी जारी है। अतः नाई भारतीय समाज के सबसे पहले चिकित्सक कहे जा सकते हैं। तमिलनाडु में आज भी नाई को 'मरुतुवर' कहा जाता है, जिसका अर्थ होता है- 'चिकित्सक।' और हां, जरा इसी प्रसंग में नाई समुदाय की स्त्रियों-दाइयों की भूमिका पर विचार करें। वे न होतीं तो गांवों में प्रसव कौन करवाता ? आज भी आधुनिक चिकित्सा के इस बड़े अभाव को पूरा करने का दायित्व कौन उठा रहा है ? हम जानते हैं कि इस समुदाय की सामाजिक हैसियत डॉक्टर या नर्स वाली तो बिल्कुल ही नहीं है। भले बाजार में जावेद हबीब अपने सैलून की फ्रेंचाइजी महंगे दामों में देते हों।

'गोदान' पर विचार करते हुए समझ में आता है कि हमें अन्न देने वाले किसान की वर्गीय-सामाजिक स्थिति अन्नदाता की तो बिल्कुल नहीं है। सब्जी उगाने वाले और गली में सब्जी बेचने वाले दोनों को अपने श्रम का मूल्य मिले न मिले, सब्जी को गोदाम में जमा करने वाले पूंजीपति को हम पूरा आदर और धन देते रहेंगे। यह किताब ऐसी बिडम्बनाओं को बार-बार कुरेदती है और पाठक को विवेकवान बनाती है। कांचा आइलैया ने इस छोटी किंतु अत्यंत रोचक व पठनीय पुस्तक में इतिहास, विज्ञान और समाज विज्ञान के अनेक प्रसंगों को समाहित कर उपयोगी बनाया है। मसलन वे धोबियों पर लिखे अध्याय में बताते हैं कि 'पुरानी पेशाब पहला डिटर्जेंट था' या 'प्राचीन रोम में कपड़े के टुकड़े पहले पुरानी पेशाब या अन्य क्षारीय घोलों में भिगोए जाते थे।' कांचा आइलैया लिखते हैं- 'जो लोग अज्ञानतावश धोबियों की निन्दा करते हैं उन्हें धुलाई के विज्ञान की खोज करने वाले इस समुदाय से सीख लेने की कोशिश करनी चाहिए।' वे आगे इस समुदाय में मौजूद लैंगिक समानता को भी अनुकरणीय बताते हैं- 'जहां अधिकांश परिवारों में केवल महिलाएं कपड़े धोती हैं और अन्य घरेलू सफाई गतिविधियों का भार उठाती हैं, वहीं धोबियों में महिलाएं और पुरुष दोनों धुलाई का काम करते हैं।... सभी जातियों और समुदायों के पुरुषों और लड़कों को धोबी बिरादरी के उदाहरण का अनुसरण करना चाहिए जो अपनी स्त्रियों के साथ मिलकर कपड़े धोते हैं। कोई भी अच्छा समाज महिला-पुरुष और लड़के-लड़की के बीच श्रम को लेकर भेदभाव नहीं करता।'



पुस्तक : हमारे समय में श्रम की गरिमा
लेखक : कांचा आइलैया
प्रकाशक : एकलव्य, ई-10, बीडीए कॉलोनी, शंकर नगर, शिवाजी नगर, भोपाल-16 (म.प्र.)
मूल्य : 80 रुपए

पशुपालक समुदायों को वे श्रेय देते हैं कि उनकी वजह से ही भारत का मांस और दुग्ध उद्योग फला-फूला है लेकिन हमारी जाति व्यवस्था ने इसे तुच्छ और गन्दा पेशा मान लिया। कांचा इस बिडम्बना को उदाहरण देकर स्पष्ट करते हैं - 'आज भी पशुपालक समुदाय से आने वाले लालू प्रसाद यादव जैसे राजनेता का भैंसों से संबंध होने के कारण मखौल उड़ाया जाता है, जबकि यज्ञों में भाग लेने वाले और धार्मिक स्वामियों के पैरों पर गिरने वाले कई राजनेता उपहास का विषय नहीं बनते।' चर्मकारों पर लिखे अध्याय में वे प्राचीन भारत और रोम में इस समुदाय के लोगों के लिए बनाए नियमों की तुलना करते हैं। जहां भारत में प्रावधान था कि 'अछूत गांव के बाहर रहें, फेंके हुए कटोरों

का प्रयोग करें और टूटे हुए बरतनों में भोजन करें। कुत्ते और बन्दर इनकी सम्पत्ति हों' (मनु स्मृति), वहीं 'रोमन सम्राट डायोक्लेशियन द्वारा जारी किए गए फरमान के जरिए कई प्रकार के सामानों और सेवाओं के उच्चतम मूल्य तय किए गए'। पुस्तक में विभिन्न श्रमिक जातियों पर लिखे ऐसे अध्यायों को कांचा बेहद तार्किक-रोचक व गंभीर बनाते हुए यह बताना नहीं भूलते कि वर्तमान व्यवस्था में इन्हें समान अवसर व आदर क्यों दिया जाए। अन्त में लिखे गए वैचारिक अध्यायों में वे अपने निष्कर्षों को सैद्धान्तिक आधार देते हैं। वे लिखते हैं- 'श्रम सभ्यताओं की प्राण शक्ति है। यदि श्रम को उपेक्षित किया जाता है तो हर समाज में आलस्य का कैंसर पैदा हो जाता है। भारत में श्रमिक समुदायों को अपमानित किया जाता रहा है और जो मेहनत का काम नहीं करते, उन्हें ऊंचा दर्जा मिलता रहा है। श्रम के प्रति ऐसे नकारात्मक रवैए के कारण मजदूर जातियों को अछूत माना गया।' आश्चर्य नहीं कि इसी रवैए ने लैंगिक विषमता को बढ़ावा दिया और औरतों को दूसरा दर्जा मिला। यदि हम अपना समाज उन्नत और वाकई सभ्य बनाना चाहते हैं तो इसके लिए जरूरी है कि समाज के सभी वर्गों-लोगों को समान अवसर, समान आदर और समान पारिश्रमिक मिले। इसके लिए श्रम की गरिमा को स्थापित करना असल चुनौती है। याद करें एक और कहानी-कफन। प्रेमचन्द ने कैसी विश्वसनीयता से बताया था कि जिस समाज में रात-दिन मेहनत करने वालों की हालत उनकी हालत से बहुत अच्छी न थी और किसानों के मुकाबले में वे लोग, जो किसानों की दुर्बलताओं से लाभ उठाना चाहते थे, कहीं ज्यादा संपन्न थे, वहां इस तरह की

मनोवृत्ति का पैदा हो जाना कोई अचरज की बात न थी। घीसू और माधव चाहते हैं हम या अविनाश मोटू। काम कर आगे बढ़ता समाज या अपने दुर्गुणों को ओढ़ता-बिछाता नष्ट होता। और कहना न होगा कि हमारे स्कूल-कॉलेजों की शिक्षा वह सीढ़ी है जो परिश्रम के प्रति असम्मान के भाव को धो-पोंछ सकती है। शुरुआत यहीं से होनी चाहिए, तभी कांचा आइलैया जैसे बड़े समाज वैज्ञानिक चिन्तक

स्कूली बच्चों और अध्यापकों के लिए ऐसी पुस्तक लिखने के लिए तत्पर हुए। अंग्रेजी की इस पुस्तक का हिन्दी संस्करण किसी दृष्टि से अनुवाद या पुनर्प्रस्तुति नहीं लगता, दुर्गाबाई व्याम के चित्र इसकी आभा को दुगुना करते हैं। चिन्ता यही होनी चाहिए कि भारत का हर विद्यार्थी और अध्यापक इसे कैसे पढ़े ? ♦

सभ्यताओं की प्राणशक्ति

श्रम सभ्यताओं की प्राणशक्ति है। यदि श्रम को उपेक्षित किया जाता है तो हर समाज में आलस्य का कैंसर पैदा हो जाता है। भारत में श्रमिक समुदायों को अपमानित किया जाता रहा है और जो मेहनत का काम नहीं करते उन्हें ऊंचा दर्जा मिलता रहा है। श्रम के प्रति ऐसे नकारात्मक रवैए के कारण ही मजदूर जातियों को अछूत माना गया। यदि किसी प्रकार का श्रम ज्यादा कठिन होता था और उससे ज्यादा बड़ी संख्या में लोग लाभान्वित होते थे, तो उस श्रम से जुड़ी जाति को और भी अधिक अछूत बना दिया जाता था। इसलिए हम देखते हैं कि वे सभी लोग जो नालियां और सड़कें साफ करते हैं, जो गांवों में मृत पशुओं को ठिकाने लगाते हैं, जो पशुओं की देखरेख करते हैं, जो मनुष्यों की हजामत बनाते हैं और जो लोगों के कपड़े धोते हैं, वे न केवल अनादर झेलते हैं बल्कि बहुत कम मेहनताना भी पाते हैं। कभी-कभी तो उन्हें मजदूरी दी ही नहीं जाती। ऐसी जाति व्यवस्था में महिलाओं का दर्जा पुरुषों से हीन होना स्वाभाविक था क्योंकि महिलाओं को अतिशय घरेलू श्रम करने के लिए मजबूर किया जाता रहा है। सामान्यतः आज भी हमारे समाज में पुरुष उन कामों में हाथ नहीं बंटते जो महिलाओं को परंपरागत रूप से मजबूरी में करना पड़ते हैं।

इतना ही नहीं, शिक्षित जातियों और समुदायों ने श्रम करने वालों को मूर्ख कहकर उनकी निन्दा की और उन्हें इस लायक नहीं माना कि उनके साथ मनुष्यों जैसा बर्ताव किया जाए। न उन्हें शिक्षा हासिल करने लायक समझा गया, न ही लेखक, प्रबंधक, इंजीनियर, चिकित्सक या लेखापाल बनने योग्य समझा गया। पुरोहित समुदाय ने कड़ी मेहनत करने वालों को 'बुरे लोग' मानने के रवैए का समर्थन किया। इस प्रकार श्रमिक समुदायों को अपमानित करने वाले इस रिवाज को धार्मिक वैधता मिल गई।

ईश्वर किसी काम से घृणा नहीं करता। ये तो कुछ मनुष्य होते हैं जो ऐसा करते हैं। ईश्वर की अवधारणा का श्रम की निन्दा और आराम की प्रशंसा करने जैसी बातों से कोई संबंध नहीं है। कुछ लोगों की धारणा जो भी हो, मनुष्य के जीवित रहने के लिए श्रम अनिवार्य है।

प्रार्थना की तरह श्रम कोई निजी कार्य नहीं है। श्रम तो खुद को और दूसरों को नवजीवन देने की प्रक्रिया है। एक व्यक्ति की मेहनत के फल अन्य कई जिन्दगियों का भी पोषण करते हैं। यदि कोई चमड़े पर मेहनत करता है तो वह चमड़ा किसी उपयोगी वस्तु, जैसे जैकेट, रस्सी, बेल्ट, जूते, बैग, ढोल, गुड़िया इत्यादि में तब्दील हो जाता है। यदि कोई मिट्टी पर काम करता है तो वह मिट्टी किसी बरतन में रूपान्तरित की जा सकती है। यदि कोई भूमि जोतकर उसमें बीज बोता है तो वह भूमि अनाज, सब्जियां और फल पैदा करती है। जब किसी व्यक्ति का श्रम उपयोगी वस्तुएं पैदा करता है तो कई लोग उनका उपयोग करते हैं। पुरोहित उनका उपभोग करता है, चिकित्सक उनका उपभोग करता है और शिक्षक भी उनका उपभोग करता है। यदि कोई पुरोहित या शिक्षक यह कहता है कि इन वस्तुओं का उत्पादक मूर्ख है, तो यह न केवल धार्मिक पाप है बल्कि सामाजिक अपराध भी है।

बच्चों को यह जरूर सीखना चाहिए कि श्रम जीवन का स्रोत है। उन्हें खेती, पशु पालन, बढईगिरी और बुनकरी के कामों में कुशलता हासिल करने की कोशिश भी करनी चाहिए। उन्हें यह जरूर जानना चाहिए कि कैसे इन श्रम कार्यों का विज्ञान और तकनीकी कामों के साथ जीवन्त संबंध है।

(समीक्षित पुस्तक से एक अंश)